राजनीति की रक्षा में कुछ तर्क

नेताओं को पूरे दिल से राजनीति करनी चाहिए। यही उनका पेशा है, और इसके लिए निष्ठावान रहना उनका कर्तव्य है। इस कथन का कारण आज के नेताओं की राजनीति और नैतिकता को सामान्यतः हानिकारक और स्वार्थपरक माना जाता है। लेकिन राजनीतिक वर्ग में राजनीति के साथ वैधता को लेकर बड़ा द्वंद चलता रहता है। ऐसा माना जाता है कि एक नेता को पूरे मन से राजनीति को अपना कर्तव्य मानकर करना चाहिए। लेकिन जहाँ नैतिकता और राजनीतिक दांवपेंचों के बीच भेद करने का अवसर आता है, वहाँ समस्या खड़ी हो जाती है। क्या इसका अर्थ यह समझा जाए कि राजनीति में नैतिकता की कोई गुंजाइश नहीं है?

चुनाव की धुरी पर घूमती राजनीति -

राजनीति को नैतिकताविहीन देखने की शुरूआत हाल ही में हुई है। गांधी के राष्ट्रीय आंदोलनों में राजनीति को आध्यात्मिकता से जोड़कर देखा जाता रहा। स्वयं गांधी, राजनीति को सत्याग्रही का नैतिक कर्तव्य मानते थे। ऐसी आदर्शवादी राजनीति की झलक संविधान सभा की चर्चाओं में भी मिलती है। शायद यही कारण है कि संविधान की प्रस्तावना में राजनीति को न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे समतावादी सामाजिक मूल्य प्राप्त करने के लिए एक वैध तंत्र के रूप में माना गया है।

सन् 1950 के दशक में प्रतिस्पर्धावाली चुनावी राजनीति की शुरूआत के साथ ही राजनीति के अर्थों में दो बड़े परिवर्तन हुए। (1) राजनीतिक दलों ने राजनीति को नैतिक आदर्शवाद से अलग नहीं किया। लेकिन राजनीतिक अस्तित्व बनाए रखने के

लिए चुनाव जीतना जरूरी हो चला। (2) दलों ने विचारधारा का इस्तेमाल सत्ता और पदों की होड़ को सही ठहराने के लिए करना शुरू कर दिया।

इंदिरा गांधी के समय लगा आपातकाल (1975-77) इसका एक अच्छा उदाहरण है। आपातकाल को देश के विकास और उपलब्धि के लिए सही ठहराया गया। विपक्ष की आलोचना की गई। यहाँ तक कि उन पर देश विरोधी राजनीति करने के आरोप लगाए गए। इसके साथ ही चुनावों में जीत की होड़ ने टिकट आवंटन से लेकर बूथ पर कब्जा, जाति/धर्म की राजनीति जैसे शक्ति-प्रदर्शन का बोलबाला कर दिया।

संविधान ही अंतिम लक्ष्य -

सन् 1990 के दशक से भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण के साथ ही राजनीति का लोकप्रिय प्रतिनिधित्व प्रभावित हुआ। शीत युद्ध की समाप्ति और यूएसएसआर के विघटन ने एक ऐसा वातावरण बनाया, जिसमें राजनीतिक विचारधारा अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हो गई। बाजार अर्थव्यवस्था के पक्ष में राजनीतिक सहमति आकार लेने लगी। इस संदर्भ में, राजनीतिक वर्ग संविधान को नैतिकता के अंतिम स्रोत के रूप में पहचानने लगे। संविधान को आदर्शवादी दस्तावेज या 'पवित्र पुस्तक' के रूप में स्थान दिया जाने लगा। इसका कारण राजनीतिक वर्ग को नैतिकता से जोड़े रखना था। हालांकि चुनाव आधारित राजनीति या सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों को बनाए रखने के लिए यह काम नहीं आया।

राजनीतिक दल अब हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि राजनीति और संविधान, दो अलग-अलग संस्थाएं है। संविधान आदर्श है, जबकि राजनीति वास्तविकता है।

राजनीति की असैद्धांतिक और दोगली परिभाषा का व्यापक प्रसार करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि इसमें नैतिकता के लिए कोई जगह नहीं है। यह सच नहीं है।

समकालीन भारत के जन-आंदोलन एक बहुत अलग तरह की राजनीति का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये आंदोलन जाति, वर्ग, लिंग और सांप्रदायिकता के मुद्दों को उठाते हैं, ताकि न्याय, और समानता की राजनीति की जा सके।

राजनीति का यह संस्करण संविधान से ही प्रेरणा लेता है। यह हमें याद दिलाता है कि यह राजनीति केवल चुनावी प्रतिस्पर्धा नहीं है, बल्कि यह संभावनाओं का क्षेत्र है, अकल्पनीय के बारे में सोचने की कला है, और असंभव प्रतीत होने वाली चीजों को प्राप्त करने का दृढ़ विश्वास है।

'द टाइम्स ऑफ इंडिया' में प्रकाशित हिलाल अहमद के लेख पर आधारित। 27 फरवरी, 2023